

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में दृष्टान्त व न्याय

□ डॉ. दामोदर शास्त्री, दिल्ली

भारतीय धार्मिक व दार्शनिक चिन्तन की सुरक्षा व विकास-प्रक्रिया में श्रद्धा के साथ-साथ तर्क व युक्ति की भी प्रमुख भूमिका रही है। यद्यपि श्रद्धा व तर्क—इनकी दिशाएँ परस्पर विपरीत प्रतीत होती हैं, तथापि विवेक व मध्यस्थता की भावना के माध्यम से इन दोनों को सत्यान्वेषण के लक्ष्य की ओर उन्मुख कर एकार्थसाधक बताया जाता रहा है। वस्तुतः विवेक के अभाव में श्रद्धा का विकृत रूप 'अन्धविश्वास' के रूप में, तथा तर्क का 'शुष्क विवाद' के रूप में प्रकट होता है। श्रद्धा व तर्क—इन दोनों का अतिरंजन, या इनमें से किसी एक के प्रति ऐकान्तिक आग्रह मिथ्यात्व व मिथ्याभिनवेश को जन्म देता है। इसलिए भारतीय आचार्यों ने, जिनमें जैन व जैनेतर दोनों सम्मिलित हैं, सत्यान्वेषी को कुतर्क, शुष्क विवाद व अन्धश्रद्धा से बचने हेतु सावधान किया है।^१ इतिहास साक्षी है कि उक्त आचार्यों व मनीषियों के निर्देश की जब-जब अवहेलना या उपेक्षा हुई है, तब-तब चिन्तन की विकास-प्रक्रिया को आघात पहुँचा है।

दृष्टान्त व युक्ति का जैन-परम्परा में प्रवेश

अनेकान्तवाद व स्याद्वाद के रूप में जैन परम्परा ने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में मध्यस्थता, निष्पक्षता व समन्वय की भावना को सदा पुष्ट किया है, और इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया को विकसित होने में प्रमुख योगदान किया है। समन्वयवादी आचार्यों के मत में श्रद्धा व युक्ति—इन दोनों के समन्वय पर ही 'दृष्टि की पूर्णता' प्रतिपादित हुई है। श्रद्धा व तर्क—इन दोनों में विरोध न हो, अपितु समन्वय-भावना बनी रहे—इस दृष्टि से जैन आचार्यों के अनुसार श्रद्धा व तर्क—इन दोनों के अतिवादों से बचना चाहिए। मनु ने आगम-अविरोधी तर्क को समर्थन देकर श्रद्धा व तर्क का समन्वय प्रस्तुत किया।^२ उसी भावना को आगे बढ़ाते हुए जैन आचार्यों ने कहा—आगम में प्रतिपादित इन्द्रिय-गम्य स्थूल पदार्थों को युक्ति व तर्क की कसौटी पर भी परखना अनुचित नहीं है। हाँ, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्ध में सावधानी अवश्य बरतनी चाहिए। चूँकि अतीन्द्रिय पदार्थ श्रद्धा व स्वानुभव (स्वसंवेदन) द्वारा ही गम्य हैं, और तर्क की परिधि से बहिर्भूत हैं^३ अतः उनके विषय में कुतर्क या विवाद का आश्रयण उचित नहीं।^४

निर्युक्तिकार आ. भद्रबाहु (वि. स—६ शती) ने पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया—१. आगमगम्य और २. दृष्टान्तगम्य। आगमगम्य तत्त्वों के निरूपण में युक्ति, तर्क आदि को अवकाश नहीं है। दृष्टान्तगम्य पदार्थों की समीक्षा स्वतन्त्र चिन्तन, युक्ति व तर्क के माध्यम से करते हुए उनकी सत्ता को प्रमाणित करने के साथ-साथ उनके स्वरूप को

विस्तृत आग्राम दिया जा सकता है। इस स्थिति में, प्रत्येक उपदेशक आचार्य के लिए यह उचित है कि वह उक्त विभाजन को ध्यान में रख कर ही अपना व्याख्यान करे।^५

आ. सिद्धसेन (५ वीं शती) ने हेतुगम्य और अहेतुगम्य—इस प्रकार तत्त्वों का विभाजन किया और कहा कि हेतुगम्य पदार्थों को भी केवल आगम-प्रामाण्य से प्रतिष्ठापित कर समझाने का यत्न करने वाला वक्ता/उपदेशक अपने सिद्धान्त का पोषक/प्रचारक तो क्या होगा, वास्तव में विरोधक (विनाशक) ही होगा।^६ इसी प्रकार, प्राचीनता का नाम लेकर, किसी बात को अन्धश्रद्धावश ज्यों का त्यों, बिना 'ननु नच' किए, सत्य रूप में स्वीकार कर लेना, या नवीन चिन्तन को, भले ही वह युक्तिसंगत ही हो, नकार देना, किसी तरह भी उचित प्रतीत नहीं होता।^७ वास्तव में, उपदेश या व्याख्यान में वक्ता को उदारता से काम लेना चाहिए। यहाँ तक कि दूसरे सम्प्रदाय आदि के सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए, बशर्ते उनसे अपने मत की पुष्टि हो सके।^८

आ. हरिभद्र का न्याय व दृष्टान्त के प्रति दृष्टिकोण

उक्त आचार्यों ने स्वतन्त्र चिन्तन व तार्किक परीक्षण की जो आधार—शिला रखी, आ. हरिभद्र ने उस पर एक विशाल भवन खड़ा कर दिया। आ. हरिभद्र के समय तक जैन संघ के दिग्म्बर-श्वेताम्बर परम्परा-भेद तो दृढमूल ही ही गये थे, व्यवहारधर्म व आचार को लेकर कुछ मान्यता भेद भी पनपने लगे थे। चैत्यवास जैसी शिथिलता-पोषक परम्परा फल-फूल रहीं थीं।^९ प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी मान्यता को आगमिक/प्राचीन बताकर, उसे ही सत्य सिद्ध करने का प्रयास कर रहा था। उक्त मान्यता को चुनौती देने पर आर्षविरुद्धता का आरोप लगाना सहज था। स्वतन्त्र चिन्तन का मार्ग प्रायः अवरुद्ध था। ऐसी स्थिति में आ. हरिभद्र ने स्पष्ट उद्घोषणा की—चूँकि वर्तमान विषम परिस्थिति में असत्य सत्य के रूप में, और सत्य असत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है, ऐसी स्थिति में युक्ति आदि से परीक्षा करना ही उचित होगा।^{१०} "जैसे, कसौटी पर कस कर ही सोने की परीक्षा होती है, वैसे ही एक तटस्थ व्यक्ति की तरह सिद्धान्त की परीक्षा करनी चाहिए।"^{११} आ. हरिभद्र ने जहाँ एक ओर शुष्क तर्कवाद की निन्दा की,^{१२} वहाँ अन्धश्रद्धा पर भी करारा प्रहार करते हुए कहा कि "दुराग्रह त्याग कर युक्ति व तर्कों से परीक्षण करने के अनन्तर जो बात युक्ति-संगत लगे, उसी को स्वीकार करना चाहिए"^{१३}

आ. हरिभद्र ने आगमगम्य (अहेतुगम्य) पदार्थों के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत को यथावत् अपना समर्थन दिया। उन्होंने अलौकिक अतीन्द्रिय पदार्थों को मात्र आगम-गम्य बताते हुए, उन्हें अनुभूति व श्रद्धा का विषय बताया,^{१४} तथा उनके सम्बन्ध में शुष्क तर्क के प्रयोग को अनुचित बताया।^{१५}

आ. हरिभद्र के मत में श्रोता या जिज्ञासु व्यक्ति के समक्ष उपदेशक के लिए यह उचित है कि वह विषय-वस्तु के अनुरूप (आगम-मात्रगम्य पदार्थों को आगम से, हेतुगम्य पदार्थों को युक्ति, न्याय, दृष्टान्त आदि द्वारा, इस प्रकार) युक्ति व आगम—इन दोनों ही प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए इस तरह व्याख्यान करे जिससे तथ्य हृदयंगम हो जाए।^{१६} हेतुगम्य पदार्थों के निरूपण में 'दृष्टान्त' के प्रयोग का भी उन्होंने प्रावधान किया।^{१७} आ. हरिभद्र के अनुसार शास्त्र के प्रति श्रोता का बहुमान—भाव जागृत हो—इस दृष्टि से भी

धर्मो दीतो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

विषय-वस्तु को स्पष्ट करते हुए उचित उदाहरणों दृष्टान्तों का प्रयोग करना चाहिए।^{१८} उन्होंने 'आचार्य' के लिए उदाहरण व हेतु के प्रयोग में निपुण होने की अपेक्षा को उचित ठहराया।^{१९} जैन-परम्परा में आचार्य के लिए नाना उपाख्यानों/दृष्टान्तों में कुशल होना— एक अपेक्षित योग्यता मानी गई है।^{२०}

'दृष्टान्त' का अर्थ, और उसके पर्याय

निर्युक्तिकार के मत में ज्ञात, उदाहरण, उपमा, निदर्शन—ये सभी एकार्थक हैं, परस्पर पर्याय हैं।^{२१} आख्यानक (कल्पित या ऐतिहासिक कथाएँ) उपमान, उपपत्ति—इन्हें भी दृष्टान्त के पर्याय रूप माना गया है।^{२२}

'दृष्टान्त' पद की निरुक्ति करते हुए आ. हरिभद्र ने बताया कि 'जो दृष्ट अर्थ तक पहुँचा दे, वह 'दृष्टान्त' है।^{२३} उक्त निरुक्ति और पर्यायों को सामने रख कर 'दृष्टान्त' का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—किसी वस्तु या प्रसंग-विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए जो लौकिक या शास्त्रीय/उदाहरण निदर्शन प्रस्तुत किया जाय, वह 'दृष्टान्त' है, वह उपमा या सादृश्य-बोधक मात्र भी हो सकता है, उदाहरण भी, अथवा समर्थन-कारी कोई कहानी-किस्सा भी हो सकता है।

न्याय-शास्त्र में अनुमान-वाक्य में प्रयुक्त पाँच अवयवों में 'दृष्टान्त' (या उदाहरण) का परिगणन किया गया है।^{२४} वादी—प्रतिवादी या लौकिक परीक्षक/समीक्षक को साध्य व हेतु—इन दोनों के साहचर्य का, या साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का निश्चय कराने के लिए, संदेहरहित कोई उदाहरण (जो प्रासंगिक अनुमान के साथ वैचारिक साम्य रखता हो) प्रस्तुत किया जाता है—वह 'दृष्टान्त' है।^{२५} आ. हरिभद्र ने अनुमानावयव 'दृष्टान्त' का भी निरूपण किया है।^{२६} प्रस्तुत निबन्ध में उक्त अनुमान—प्रक्रियागत 'दृष्टान्त' गृहीत नहीं है।

न्याय और दृष्टान्त : साम्य व वैषम्य

न्याय, दृष्ट, अभिसमन्वागत—ये एकार्थक हैं।^{२७} 'न्याय' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। जैसे—१. परमात्मपद या मोक्ष अथवा अभीष्ट अर्थ का साधक उपाय, २. मुमुक्षु साधक का सदाचार, ३. प्रस्तुत अर्थ का साधक प्रमाण^{२८} ४. दयार्द्रवृत्ति।^{२९} ५. प्रमाणों से अर्थ-परीक्षण की प्रक्रिया।^{३०} ६. अनुमिति—प्रक्रिया का साधक पंचावयवात्मक वाक्य^{३१} ७. (अनुमिति में चरम कारण) लिग-परामर्श के प्रयोजक शब्द-ज्ञान का जनक वाक्य^{३२} ८. युक्ति, या युक्ति का प्रतिपादक शास्त्र।^{३३}

लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध घटना-विशेष के दृष्टान्तों को भी 'न्याय' कहा जाता है।^{३४} धवला-कार के मत में ज्ञेयानुसारी सिद्धान्त 'न्याय' है।^{३५}

प्रस्तुत निबन्ध में 'न्याय' पद से घटना-विशेष पर आधारित 'सिद्धान्त-विशेष' गृहीत किया गया है।

न्याय और दृष्टान्त में काफी समानता है। वस्तुतः 'न्याय' 'दृष्टान्त' का ही एक प्रकार है। इन दोनों में सूक्ष्म भेद—रेखा भी है, वह यह कि 'न्याय' किसी घटना-विशेष पर आधारित सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते हैं, और वक्ता/उपदेशक उक्त सिद्धान्त के क्रियान्वयन

को इष्ट/उचित बताते हुए वर्ण्य विषय का समर्थन करते हैं, जब कि ज्ञात/दृष्टान्त उदाहरण सामान्य घटनाएँ होती हैं जिनके साम्य पर वर्ण्य विषय या प्रतिपाद्य सिद्धान्त की स्पष्टता, पुष्टि या समर्थन करना अभीष्ट होता है।

दृष्टान्तों की महत्ता/उपयोगिता

दृष्टान्तों की संख्या अनगिनत है। प्रत्येक दृष्टान्त में यह क्षमता होती है कि वह श्रोता की बुद्धि को अनुकूल या वशीभूत कर ले।^{३६} इसी दृष्टि से दृष्टान्त को एक दीपक की उपमा दी गई है जो विषय-वस्तु को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है।^{३६} जैन आचार्यों ने विषय-वस्तु को अधिक रोचक व सहजगम्य बनाने हेतु यत्र-तत्र विविध दृष्टान्तों का प्रचुर प्रयोग किया है। नन्दी सूत्र में श्री संघ की रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, मेरु आदि दृष्टान्तों से विशेषताओं को उजागर किया गया है।^{३७} इसी प्रकार, नन्दीसूत्र^{३८} में मल्लक-दृष्टान्त, प्रतिबोधक दृष्टान्त आदि का प्रयोग किया गया है। निर्युक्ति में^{३९} सर्प, पर्वत, अग्नि आदि के दृष्टान्तों से मुनि की विशेषता का निरूपण हुआ है जो अधिक प्रभावकारी बन पड़ा है। आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन (ई. ८००-८४८) ने श्रोता के विविध प्रकारों को समझाने हेतु मिट्टी, चलनी आदि विविध उपमानों को प्रयुक्त किया है जिससे वर्णन में सहज रोचकता पैदा हो गई है।^{४०}

प्रस्तुत निबन्ध में आ. हरिभद्र के ग्रन्थों में प्रयुक्त प्रमुख न्यायों तथा दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हुए, सम्बद्ध वर्ण्य-विषय में उनके उपयोग पर प्रकाश डाला जा रहा है:—

१. चारिसंजीविनीचार न्याय

यह न्याय योगविन्दु (पद्य सं. ११९) में निर्दिष्ट है।^{४१} यह न्याय निम्नलिखित घटना/कथा को इंगित करता है—एक महिला की इच्छा थी कि उसका पति उसके वश में रहे। उसे एक तान्त्रिक ने दो प्रकार की जड़ी-बूटी दी। पहली जड़ी-बूटी खाने वाला मनुष्य से बैल बन जाता था, और दूसरी जड़ी-बूटी खिलाने से बैल मनुष्य हो जाता था। वह महिला अपने पति को पहली जड़ी खिला कर बैल बना देती, और जब चाहती तब दूसरी जड़ी खिला कर पुनः मनुष्य बना देती थी। एक दिन वह दूसरी जड़ी-बूटी की पहचान भूल गई, अतः उसके लिए यह कठिन हो गया कि जंगल में उस जड़ी-बूटी को कैसे पहचान कर निकाले। उसके लिए अपने पति को पुनः मनुष्य बनाना कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में उस स्त्री को किसी समझदार ने यह सलाह दी कि अपने बैल रूपी पति को उस जंगल में चरने के लिए खुला छोड़ दे, कभी न कभी वह जड़ी उसके मुँह में पड़ जाएगी तो उसका पति बैल से मनुष्य बन जाएगा। उस स्त्री ने वैसा ही किया और उसका पति एक दिन बैल से मनुष्य बन गया।

उक्त कथा या घटना-विशेष के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जहाँ विविध वस्तुओं में अभीष्ट वस्तु को पहचानना कठिन हो, वहाँ उन सभी वस्तुओं को प्रयोग में लाते रहना चाहिए, कभी न कभी उन वस्तुओं में ही अभीष्ट वस्तु हाथ लगेगी और अपना चमत्कार स्वयं प्रकट करेगी। आ. हरिभद्र ने उक्त न्याय के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया है कि कौन वन्दनीय है और कौन अवन्द्य-इसका निर्णय कर पाना कठिन हो,

**घमो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है**

तब सभी-व्यक्तियों (तथाकथित देवताओं) के प्रति वन्दना का भाव रखना चाहिए। कभी न कभी यथार्थतः वन्दनीय व्यक्ति मिलेगा ही और अभीष्ट फल प्राप्त हो ही जाएगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त निर्देश साधना का निम्नकोटि में स्थित व्यक्ति के लिए है।^{४२} आ. अकलंक आदि आचार्यों की दृष्टि से उक्त स्थिति 'वैनयिक मिथ्यात्व' ही कही जाएगी।^{४३}

२. मण्डूकचूर्ण (भस्म) न्याय

यह न्याय योगबिन्दु (पद्य सं. ४२३) में, तथा योगशतक (गाथा ८६) में प्रयुक्त हुआ है।^{४४} उक्त न्याय वर्षा ऋतु की घटना को इंगित करता है। मेंढक का शरीर टुकड़े-टुकड़े भी हो गया हो, तो भी वर्षा के जल में वे सभी टुकड़े मिल जाते हैं और मेंढक पुनर्जीवित हो जाता है। किन्तु मेंढक के शरीर को जला कर राख कर दिया जाये, तो उस राख पर कितना ही वर्षा का जल गिरे, मेंढक जीवित नहीं होता। उक्त न्याय के माध्यम से आचार्य यह समझाना चाहते हैं कि आन्तरिक पवित्रता के साथ किया गया तप मनोविकारों को भस्मीभूत कर देता है, इस प्रकार कर्मों व मनोविकारों के पुनः प्रादुर्भूत होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। किन्तु आन्तरिक भावना के बिना, मात्र शारीरिक काय-क्लेश रूपी तप से दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, और वे अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करते ही पुनः प्रादुर्भूत/विकसित हो सकते हैं।

उक्त न्याय का निदर्शन जैनेतर परम्परा में भी हुआ है।^{४५}

३. शत्रुग्रह-नष्टाध्वभ्रष्ट-तज्ज्ञान-न्याय

इस न्याय का प्रयोग 'उपदेशपद' (गाथा ८६१-६४) में किया गया है।^{४६} न्याय का स्वरूप इस प्रकार है। कोई व्यक्ति पटना की ओर चला। रास्ते में खतरनाक जंगल था, वहाँ डाकुओं/शत्रुओं के चंगुल में फँस गया। उसका माल-असबाब तो लुटा ही, रास्ते से भी भटक गया। ऐसी स्थिति में वह सही मार्ग किससे पूछे? हो सकता है कि जिससे पूछे वह शत्रु-पक्ष का ही हो।^{४७} इसलिए सोच-समझ कर ही किसी से मार्ग पूछना उचित होगा। उचित तो यह होगा कि बालक, वृद्ध, स्त्री या पशु चराने वाला-इनमें से कोई भी मिले तो उससे रास्ता पूछा जा सकता है, क्योंकि ये सभी प्रायः सत्यवादी होते हैं।^{४८} इस न्याय के आधार पर आचार्य ने यह समझाने का प्रयास किया कि आगम के पद, वाक्य, महावाक्य इनके अर्थों को हृदयंगम कर, पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को संमभा जा सकता है। अन्य मत के उपदेशकों के वाग्जाल के कारण साधक या जिज्ञासु मार्गभ्रष्ट हो गया हो तो उसे चाहिए कि वह आगम के 'महावाक्यार्थ' (पूरे प्रकरण का पूर्वापर संगत अर्थ) पर ही अधिक भरोसा करे। पदार्थ व वाक्यार्थ पर अधिक विश्वास नहीं किया जाना चाहिए।^{४९}

४. प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्

कीचड़ में पाँव लिप्त कर, फिर उसे धोने की अपेक्षा से तो यही उचित है कि कीचड़ में पाँव दिया ही न जाये। यह लोक प्रचलित प्रसिद्ध न्यायोक्ति है।

पूजा आदि का फल-मोक्ष न चाह कर राज्य-सम्पत्ति आदि लौकिक वैभव की इच्छा करना, और इसके समर्थन में यह कहना कि वैभव के परिग्रह से होने वाले पाप को, दान

आदि से होने वाले पुण्य से धोया जा सकता है दोनों ही बातें अनुचित हैं। उक्त तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए आ. हरिभद्र ने उक्त न्याय का उपयोग किया है। उन्होंने कहा कि कोई व्यक्ति वैभवादि की इच्छा इसलिए करता है कि उस सम्पत्ति से दानादि धर्म (शुभ कार्य) किए जा सकेंगे तो वह अनुचित करता है क्योंकि इससे तो यही अच्छा होगा कि वैभवादि की इच्छा ही न की जाये।^{५०}

आ. हरिभद्र ने उपर्युक्त लौकिक न्यायों के अतिरिक्त, कुछ शास्त्रीय न्यायों का भी प्रयोग किया है:—

५. सामान्योक्तावपि प्राधान्यव्यापनार्थं विशेषाभिधानम्

(प्रधानता बताने के लिए विशेष-कथन)

प्रस्तुत न्याय नन्दी सूत्र (गाथा-६) पर की गई वृत्ति में प्रतिपादित है।^{५१} धर्म-संघ एक महान् रथ है जिसकी पताका 'शील' है, और तप व नियम उसके घोड़े हैं—ऐसा आगम (नन्दी सूत्र) में वर्णित है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'शील' में तप व नियम समाविष्ट ही हैं, फिर इनका पृथक् कथन क्यों किया गया? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु प्रस्तुत न्याय उपस्थापित किया गया है। इस न्याय के अनुसार तप व नियम की शील-व्रतों में भी प्रधानता/विशेषता बताने के लिए विशेषरूप से (पृथक् रूप से) उनका उल्लेख किया गया है।^{५२}

६. जातीय वस्तुओं का प्रतिनिधित्व (एक-ग्रहणे तज्जातीय-ग्रहणम्)

इस न्याय को दशवैकालिक-वृत्ति (४/सू. पर, पृ. ९५, तथा ६/९ पर पृ. १३१), तथा पंचवस्तुक (९९) की स्वोपज्ञ टीका में उपयुक्त किया गया है।

इस न्याय का हार्द यह है कि किसी एक वस्तु का कथन हो तो उस जाति की अन्य वस्तुओं का कथन भी समझ लेना चाहिए। जैसे आरम्भ (हिंसा) का त्याग कहा गया हो तो परिग्रह का भी त्याग समझ लेना चाहिए।^{५३} इसी प्रकार, हिंसा करने-करवाने का जहाँ निषेध है, वहाँ हिंसा के अनुमोदन का भी निषेध समाविष्ट है।^{५४}

७. विशेषणान्यथानुपपत्ति न्यायः—

इस न्याय का निदर्शन नन्दी सूत्र (गाथा-४० पर) की वृत्ति में हुआ है। जैसे, 'सवत्सा घेनुः' ऐसा कहने पर गौ का ही बोध होता है, न कि घोड़ी का। क्योंकि 'सवत्सा' विशेषण घोड़ी के लिए संगत नहीं हो सकता। उसी प्रकार 'नित्यानित्यज्ञाता' इस कथन में 'नित्यानित्य' पद से 'वस्तु' का अग्र्याहार स्वतः हो जाता है, क्योंकि नित्यानित्यात्मकता विशेषण वस्तु में ही घटित होता है।

८. पदार्थ-कथन-माध्यम से व्याख्यान (तत्त्वपर्यायैर्व्याख्यानम्)

इस न्याय का उल्लेख दशवैकालिक वृत्ति (२/१ गाथा, निर्युक्ति १५८, पृ. ५६) में हुआ है। श्रमण के स्वरूप के प्रसंग में निर्युक्तिकार 'श्रमण' के पर्याय (अनगर, पाषण्डी, चरक, तापस, निर्ग्रन्थ, संयत, भिक्षु) उपस्थापित करते हैं।^{५५} इसका औचित्य बताने के लिए आ. हरिभद्र प्रस्तुत न्याय (तत्त्वपर्यायैर्व्याख्यानम्) का सहारा लेते हैं और कहते हैं कि वस्तु के

धर्मो दीपो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

प्रकार तथा उसके पर्यायों के कहने से वस्तुतत्त्व के स्वरूप को अधिक स्पष्ट व विस्तार से बताया जा सकता है। प्रत्येक पर्याय की अपनी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) होती है जो वस्तुगत किसी विशेषता को उद्घाटित करती है। पद्मपुराण (रविषेण) में भी श्रमण के पर्यायों की निरुक्ति करते हुए श्रमण-चर्या के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।^{५६}

६. पदावयव का पूरे पद के लिए प्रयोग—(पदेऽपि पदावयव-प्रयोग-दर्शनम्)

इस न्याय का उल्लेख नन्दी सूत्र (७६ गाथा) पर की गई वृत्ति में हुआ है। इस न्याय के अनुसार सत्यभामा के स्थान पर 'भामा' पद का प्रयोग लोक में जैसे प्रचलित है, उसी तरह आगमों में भी समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'विश्रेणिस्थित' की जगह 'विश्रेणि' पद नन्दी सूत्र (गाथा-७६) में प्रयुक्त हुआ है।^{५७}

आ. हरिभद्र के ग्रन्थों में प्रयुक्त प्रमुख दृष्टान्त/उदाहरणः—

आ. हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में अनेक जगह दृष्टान्तों/उपमानों के माध्यम से विषय-वस्तु में अधिक रोचकता व स्पष्टता उत्पन्न की है। अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग उन्होंने किया है, उनमें से कुछ प्रमुख दृष्टान्तों का उल्लेख आगे किया जा रहा है—

१. गोवत्सदुग्धपान-दृष्टान्त

चारित्र-सम्पन्न व्यक्ति के मुख से सुने उपदेश लाभकारी होते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु आ. हरिभद्र ने गौ माता व स्तनपायी बछड़े का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि जैसे बछड़ा गौ के थन से दूध पीता है, वह उसके लिए लाभकारी होता है, किन्तु यदि पात्र में दुहे गए गो-दुग्ध को पीता है तो वह उतना लाभकारी नहीं होता, वैसे ही गुणी-सच्चरित्रव्यक्ति से प्राप्त उपदेश अधिक लाभदायक होता है और चारित्रहीन व्यक्ति से प्राप्त उपदेश लाभकारी नहीं होता।^{५८}

२. अन्धव्यक्ति-दृष्टान्त

अन्धा व्यक्ति देखना चाहते हुए भी नहीं देख पाता, भले ही सूर्य का या सैकड़ों दीपकों का प्रकाश कर दिया जाये। कभी-कभी चिकित्सा (आपरेशन) या पुण्योदय से अन्धा भी देखने लग जाता है। संयोगवश पुण्य-प्रभाव से ऐसा भी होता है कि भयंकर बीहड़ जंगल को भी बिना किसी विपत्ति में पड़े पार कर जाता है। उसी तरह शास्त्र-भक्ति (सद्दर्शन) से हीन व्यक्ति निर्दुष्ट व उत्तम फलदायी व्रतादि-आचरण नहीं कर पाता^{५९} भले ही सैकड़ों ग्रन्थ उसे पढ़ाये जायें।^{६०} किन्तु वहीं व्यक्ति मिथ्यात्व की ग्रन्थ को तोड़ देता है तब सत्योन्मुखी दृष्टि पा लेता है।^{६१} शास्त्र-ज्ञान से रहित व्यक्ति भी सातावेदनीय कर्मों के प्रभाव से धर्म-पथ पर निरापद अग्रसर होता जाता है।^{६२}

३-४. उत्पलशतपत्रभेद तथा जीर्णपट्टशाटिकापाटन दृष्टान्त

जिस प्रकार कमल पुष्प के सौ पत्तों को एक साथ रख कर उन्हें सुई से छेदा जाये तो प्रत्येक पत्र के छिन्न होने का पृथक्-पृथक् काल निर्धारित करना कठिन है, वस्तुतः छेदने की क्रिया अत्यन्त शीघ्र होती है और काल-व्यवधान बहुत सूक्ष्म होता है—यद्यपि छेदन-क्रिया

प्रत्येक पत्ते की क्रम से ही होती है। अग्रग्रह, ईहा, अवाय, धारणा-इन क्रमिक मति-ज्ञानों में अत्यन्त सूक्ष्म कालव्यवधान रहता है—इसे हृदयंगम कराने के लिए प्रस्तुत दृष्टान्त का प्रयोग किया गया है।^{१३}

इसी दृष्टान्त का प्रयोग आ. जिनदास गणि ने भी इसी संदर्भ में विशेषावश्यक भाष्य में किया है।^{१४}

इसी दृष्टान्त से मिलते-जुलते एक अन्य दृष्टान्त का भी प्रयोग आ. हरिभद्र ने नन्दी-सूत्र की वृत्ति में^{१५} किया है, वह है—जीर्णपट्टशाटिकापाटन दृष्टान्त। पुरानी जीर्ण-शीर्ण साड़ी बहुत जल्दी फाड़ी जाती है, वहाँ भी प्रत्येक तन्तु की क्रमिक भेद-क्रिया में अत्यन्त सूक्ष्म कालव्यवधान है।

५. चिकित्सा-दृष्टान्त

संसारी प्राणी अष्टविध कर्मरूपी रोग से ग्रस्त है। संयम-धर्म ही उसकी औषध है, धर्म में रति, और अधर्म में अरति सुपथ्य-विधि है।^{१६} सिद्ध या मुक्त-आत्मा उक्त कर्म-रोग से मुक्त होने के कारण परम स्वस्थता की स्थिति में पहुँचे हुए होते हैं।^{१७} चूँकि औषध अस्वस्थ को ही दी जाती है, स्वस्थ को नहीं, अतः परमस्वस्थता-प्राप्त सिद्धों को अन्नादि की आवश्यकता नहीं।^{१८}

आत्मघाती कर्मों पर विजय प्राप्त करने वाले जिनेन्द्र देव कर्मरोगग्रस्त प्राणियों के लिए वैद्य-तुल्य हैं, उनका प्रवचन उनके लिए औषध है जिसका सेवन करने से कर्म-व्याधि से छुटकारा निश्चित है।^{१९}

जिस प्रकार वैद्य के लिए भी असाध्य रोगों की चिकित्सा करना सम्भव नहीं है, यदि वैद्य असाध्य रोग की चिकित्सा का प्रयास करे तो वह रोगी को और स्वयं को भी, संकट में डालेगा। वैसे ही अभव्य (मोक्ष के लिए अयोग्य) प्राणी के लिए कर्म-व्याधिमुक्त होना, और वैद्य के लिए वैसा करा पाना-दोनों कठिन हैं।^{२०}

चिकित्सा में जैसे दवाई का कडुवापन (कभी-कभी जहरीलापन भी) लाभकारी ही होता है, वैसे ही तपस्या में परीषहादि का कष्ट भी साधक के लिए लाभप्रद होता है।^{२१}

औषधि तीन प्रकार की होती हैं—१. रोग की स्थिति में ग्रहण की जाये तभी लाभदायक, अन्यथा रोग पैदा करती है, २. रोग की स्थिति में ली जाये तो लाभप्रद, नीरोगता में ली जाये तो न लाभ और न हानि। ३. रोग होने पर लें तो नीरोगता, नीरोगता में लें तो भी शक्ति आदि में वृद्धि होती है। सायं-प्रातः आवश्यक धार्मिक क्रिया (प्रतिक्रमणादि) करना मुनि के लिए अन्तिम व तीसरी प्रकार की औषधि है जो दोष-सेवन की स्थिति में तो लाभदायक है ही, दोष-सेवन न होने की स्थिति में भी ज्ञान, चारित्र आदि आत्मिक गुणों को बढ़ाने वाली (रसायनवत्) है।^{२२}

उपचार करते-करते किसी प्रमाद के कारण रोग पुनः उभर जाए तो पुनः अप्रमाद के साथ उपचार प्रारम्भ करना उचित होता है, वैसे ही संयम-साधना में किसी कारण अनाचार का सेवन हो जाये तो पुनः, पूर्ववत्, उत्साह के साथ, संयम में प्रवृत्त होना चाहिए।^{२३}

धर्मो दीप्तो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

जिस प्रकार, घाव पर दवा उतनी ही लगाई जाती है, जितनी जरूरत होती है, उसी प्रकार मुनि को उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए जितनी से भूख-प्यास आदि की शान्ति हो जाये। (इतनी कम भी न हो कि संयम साधना न हो सके, और इतनी अधिक भी नहीं कि संयम-साधना में व्यवधान पैदा कर दे।)^{७४}

औषधि कितनी ही अच्छी हो, उसका प्रयोग नियत समय पर न किया जाये या गलत समय पर किया जाय तो लाभ के बजाय हानि भी हो सकती है, वैसे ही धर्मोपदेश का प्रयोग भी समय-असमय देख कर करना चाहिए।^{७५} रोग की मूढभूत (मन्द) अवस्था में औषधि (कोई) लाभकारी होती है, वैसे ही संसारी जीव जब संसार भ्रमण करते-करते चरम-पुद्गलावर्त (मन्द कषाय) या अपुनर्बन्धक की स्थिति पर पहुँच जाता है, तभी धर्मोपदेश-औषधि कारगर सिद्ध हो पाती है, अन्यथा गाढ व प्रचुर मिथ्यात्व के कारण धर्मोपदेश के प्रति द्वेष-भाव भी रह सकता है या अनुराग नहीं हो सकता है।^{७६}

६. नारी-पुरुषप्रणय-दृष्टान्त

जैन धर्म बाह्य क्रिया की अपेक्षा भावना को प्रधानता देता है। कोई स्त्री मन से पर-पुरुष में आसक्त हो, वह भले ही अपने पति की (बाह्य रूप में) सेवा करती हो, पापी ही कही जायगी। वैसे ही जिस (भिन्न-ग्रन्थि) साधक का मन मोक्ष-लक्ष्य या परमात्मतत्त्व के प्रति आसक्त हो गया है, वह भले ही सांसारिक प्रवृत्ति में लगन भी दिखाई दे, योगसाधक ही कहा जाएगा।^{७७}

जैन परम्परा में मुक्ति को एक सर्वांगसुन्दर स्त्री के रूप में वर्णित किया गया है।^{७८} उसके साथ सम्भोग/संयोग कराने वाला एकमात्र “धर्म” है।^{७९} जिस प्रकार कामुक पुरुष को यदि कोई सुन्दर स्त्री दिखाई पड़ जाय तो वह सब काम-काज छोड़ कर उस स्त्री को ही एकटक निहारने लगता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक का धर्म के प्रति स्वाभाविक अनुराग रहता है।^{८०}

७. कूपखननादि-दृष्टान्त

जिन-पूजा में कुछ जीव-हिंसा भी होती है, इसलिए इसे करना उचित नहीं—ऐसी शंका/मान्यता को “कूपन्याय” (कूप-दृष्टान्त) से दूर करने का प्रयास किया गया है।^{८१}

जैसे कूप को खोदने में अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी लोग कूआं खोदते हैं, क्योंकि कूआं खुद जाने पर उससे निकले जल से प्यास आदि की शान्ति ही नहीं, जीवन-यात्रा का निर्वाह भी होता है। वैसे ही गृहस्थ द्वारा पूजा आदि करते समय कुछ जीव-हिंसा भी हो जाए तो भी वह करणीय होती है, क्योंकि जिन-पूजा से होने वाली भावों की निर्मलता पापकर्म का क्षय कर देती है।^{८२}

आ. हरिभद्र ने एक अन्य स्थल में श्रावकों के कुछ कार्यों को उक्त दृष्टान्त के माध्यम से उचित ठहराया है।^{८३}

कूपजल प्रणालिका-दृष्टान्त के द्वारा एक स्थल पर उन्होंने भावना-प्रवाह को स्पष्ट किया है। जैसे कूप के भीतर भूमिवर्ती जल-प्रणालिका (पानी आने की नाली) द्वारा

निरन्तर जल आता रहता है, अतः जल की कभी कमी नहीं होती। यह प्रवाह निरन्तर होता रहे—इसके लिए पत्थर, कीचड़ आदि अवरोधक तत्त्वों को हटाना भी उचित है, वैसे ही पवित्र मन में शुभ भावनाओं का प्रवाह उत्तरोत्तर समृद्ध होता रहता है। ८५ साधक को चाहिए कि धर्मोपदेश सुनने आदि कार्य को करता रहे ताकि शुभ भावना का प्रवाह कभी अवरुद्ध न हो। ८५

८. मूर्खताकिक-दृष्टान्त

योगदृष्टिसमुच्चय (पद्य सं. ९१) में छिद्रान्वेषी व कुतर्की व्यक्ति की दुर्दशा का दृष्टान्त देकर, कुतर्क की अनुपादेयता/तुच्छता का प्रतिपादन किया गया है। ८६ प्रस्तुत दृष्टान्त एक घटना के रूप में है। एक ताकिक कहीं जा रहा था। मार्ग में एक मदीन्मत्त हाथी दौड़ता हुआ आ रहा था। सभी लोग रास्ते से हट कर सुरक्षित स्थान पर खड़े हो गए किन्तु वह ताकिक वहीं खड़ा रहा। वह तर्क कर रहा था कि हाथी समीपस्थ व्यक्ति को ही मारता (मार सकता) है। सब से समीपस्थ व्यक्ति तो हाथी पर बैठा महावत ही है, उसे ही मारेगा, मुझे नहीं। इसी बीच वह हाथी नजदीक आ गया और उस ताकिक पर भूट पड़ा। किसी उपाय से महावत ने अंकुशादि का प्रयोग कर उस ताकिक के प्राणों की रक्षा की।

९. अज्ञानिशबरक्रिया-दृष्टान्त

इस दृष्टान्त का प्रयोग योगविन्दु (पद्य नं. १४८) में किया गया है। अज्ञानी जन की क्रिया में दोषबहुलता ही रहती है, कभी-कभी आंशिक रूप से सच्चेष्टा का आभास होता है, किन्तु अज्ञानमय होने के कारण सम्पूर्ण क्रिया दोषपूर्ण ही मानी जाएगी। इस तथ्य को समझाने के लिये एक अज्ञानी भीलराज की कहानी का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। कथा इस प्रकार है—

एक भीलराज अपने साथी भीलों के साथ दुराचारपूर्ण जीवन बिता रहा था। लोगों को लूटना, माँस-मदिरा का सेवन करना उनका दैनिक कृत्य था। एक बार एक तापस उसके पास आगया और उसने अपने सदुपदेश के प्रभाव से भीलों को भक्त बना लिया। तापस के मस्तक पर मोर-मुकुट शोभित होता रहता था। वह मुकुट भीलराज को काफी मन भाया। उसने तापस से वह मुकुट देने के लिए कहा, किन्तु तापस ने देने से इन्कार कर दिया। भीलराज ने साथियों को आदेश दिया कि तापस को मार कर मुकुट ले आओ, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि ख्याल रखना कि तापस हम सब के गुरु हैं, इसलिए उन्हें पैर मत लगाना क्योंकि गुरुजनों को पैर छू जाये तो पाप लगता है। भीलों ने वैसा ही किया। यहाँ भीलराज की सारी क्रिया अज्ञानमय होने से दोषपूर्ण ही है। गुरु के प्रति आदर प्रदर्शित करने वाली बात निस्सार है। भीलराज के मन में तापस के प्रति थोड़ा सा भी आदर होता तो वह तापस को मारने का आदेश क्या दे सकता था ?

१०. मयूरी-दृष्टान्त

मयूरी-दृष्टान्त द्वारा सदयोग साधक की आत्मिक आन्तरिक विशेषताओं की महत्ता प्रतिपादित की गई है। जैसे, मयूरी के अण्डों में अन्य पक्षियों के अण्डों की तुलना में अधिक

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

आन्तरिक गुण व शक्ति की मात्रा निहित होती है, वैसे ही सद्योग-साधक की आन्तरिक विशेषताएँ अन्य जीवों की तुलना में अधिक प्रभावशाली होती हैं, और वे ही यथासमय योगिक उपलब्धियों के रूप में पुष्पित व फलित होती हैं।^{५७}

११. सुवर्णघट-दृष्टान्त

जैसे सुवर्ण का घट स्वयं में मूल्यवान् व उपयोगी होता है, यहाँ तक कि टूट जाने पर भी उसका मूल्य कम नहीं होता। उसी प्रकार, सम्यग्दृष्टि साधक द्वारा किया गया शुभ अनुष्ठान काषायोदय से भग्न होने पर भी प्रशस्तता से वंचित नहीं होता।^{५८}

१२. वणिग्वत्सक-दृष्टान्त

इस दृष्टान्त का संकेत दशवैकालिकवृत्ति में किया गया है। मुनि की भिक्षा-चर्या का स्वरूप बताने हेतु इसका प्रयोग है। किसी बनिये ने गाय के बछड़े को पाल रखा है। उस बनिये की पत्नी है जो विविध मनोरम अलंकारों से सजी-संवरी रहती है। किन्तु वह उस बछड़े को नित्य प्रति अपने हाथों से खाना खिलाती है। वहाँ, जैसे उस बछड़े की उस स्त्री के मनोरम रूप या बहुमूल्य अलंकारों की ओर दृष्टि नहीं रहती, मात्र खाद्य पदार्थ पर रहती है, वैसे ही मुनि की दृष्टि भी मात्र भिक्षा पर ही होती है या उसकी शुद्धता—अशुद्धता पर रहती है, किन्तु देने वाले के वैभव आदि पर उसका मन लालायित नहीं होता।^{५९}

१३. समेघ-अमेघरात्रिदर्शन-दृष्टान्त

योगदृष्टिसमुच्चय में आठ योग-दृष्टियों के स्वरूप को समझाने हेतु रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे कोई व्यक्ति एक ही पदार्थ को मेघाच्छन्न रात्रि में देखे, दिन में सूर्य के 'प्रकाश में देखे' अथवा मेघरहित साफ चाँदनी रात में देखे, प्रत्येक परिस्थिति में जो दर्शन होगा वह दूसरी परिस्थिति में होने वाले दर्शन से कुछ भिन्न होगा। इसी तरह रोगयुक्त आँख से देखने में और नीरोग आँखों से देखने में अन्तर होगा ही। आचार्य हरिभद्र ने इन दृष्टान्तों के माध्यम से विविध योगदृष्टियों में दर्शन या वैचारिक स्थिति की भिन्नता को हृदयंगम कराया है। साधक की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य के कारण ही विचारभेद या भावना-भेद होते हैं।^{६०}

इस तरह अन्य अनेकों दृष्टान्त हैं, उन सबका निरूपण इस सीमित निबन्ध में कर पाना कठिन है। इतना निश्चित है कि उक्त दृष्टान्तों से हम आचार्य की बहुश्रुतता, विविध-शास्त्रज्ञता, लौकिक व्यवहारनिपुणता तथा उपदेश-कुशलता आदि गुणों का सहज आकलन कर सकते हैं, उन्होंने इन न्यायों व दृष्टान्तों के माध्यम से विषय-वस्तु को तो अधिक स्पष्ट किया ही है, धर्मोपदेश को लौकिक धरातल से, लोक-जीवन से, जोड़ने का प्रयास भी किया है। इसके अलावा धर्म-प्रभावना को भी नया आयाम मिला है।

संदर्भ-स्थल—

१. मनुस्मृति ४।१३९, शुक्रनीति ३।६२, महाभारत शान्तिपर्व, ३४९।७१ निशीथ-भाष्य २६।१३, उत्तराध्ययनसूत्र १७।१२, सूत्रकृतांग १।३।३।१९।

आ. हरिभद्र के ग्रन्थों में दृष्टान्त व न्याय / १३९

२. मनुस्मृति १२।१०६।
३. ब्रह्मसूत्र २।१।१, महाभा. वनपर्व ३।३।११७, गरुडपुराण १।१०९।५१, धवला १।१।४१ पृ. २७३, गोम्मटसार जीवकाण्ड-गाथा-१९६ पर जीव प्र. टीका।
४. पुराण मानवो धर्मः सांगोपांगविकित्सकः। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः [मनु. १२।११० प्रक्षिप्त]।
५. आणागिज्झो अत्थो आणाए चेव सो गेहेयव्वो। दिट्ठतिय दिट्ठता कहणविहि, विराहणा इयरा। [आवश्यक-नियुक्ति ६।७]।
६. सन्मतितर्क (प्रकरण) ३।४३, ४५,
७. सिद्धसेन द्वात्रिंशिका ६।२, ५,
८. सिद्ध. द्वात्रि. ८।१९,
९. सम्बोधप्रकरण [आ. हरिभद्र] ४६-७६,
१०. धर्मबिन्दु [हरिभद्र] ८५,
११. परीक्ष्य हेमवद् ग्राह्यं पक्षपाताग्रहेण किम् [लोकतत्त्वनिर्णय-१८] (तुलना-तत्त्वसंग्रह [बौद्ध ग्रन्थ]-३५८८),
१२. योगदृष्टिसमुच्चय [हरिभद्र] १४३-१४६, ९०-९०, योगबिन्दु [हरिभद्र] ६६-६७, वादाष्टक [हरिभद्र],
१३. युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः [लोकतत्त्वनिर्णय ३८] द्र० योगबिन्दु २२, ५२५, ३१७,
१४. योगदृष्टि ९९-१००,
१५. योगदृष्टि ८७-९८, ज्ञानसाराष्टक [हरिभद्र] २६।३ [तुलना आगमस्य अतकंगोचरत्वात् [धवला १।१।२५, पृ. २०७] पंचाध्यायी २-४८३, आलाप-पद्धति ५,
१६. पंचवस्तुक [हरिभद्र] ९९१,
१७. पंचवस्तुक ९९३-९४
१८. पंचवस्तुक ९९५
१९. दशवैकालिकवृत्ति [हरिभद्र] पृ. ४,
२०. आचारांग १।६।५, आदिपुराण [जिनसेन] १।१३०,
२१. दशवैकालिक-नियुक्ति ५२,
२२. स्थानांगसूत्र ४।३।४९९ पर टीका, स्थानांग में दृष्टान्त [ज्ञात] के चार (आहरण, आहरणतद्देश, उपन्यासोपनय आदि) भेद बताये गये हैं। इनमें प्रत्येक के भी चार-चार भेद बताए गये हैं। अतः कुल भेदों की संख्या १६ हो जाती है [द्र. स्थानांग ४।३।४९९-५०३] तथा दशवैकालिकनियुक्ति ५३-१३७ उदाहरण के जो चार भेद नियुक्ति [गाथा-५४] में बताए गए हैं, इनमें आहरण-दृष्टान्त का दूसरा नाम 'उदाहरण' है, इसीलिए नियुक्ति में वर्णित उदाहरण के भेद और स्थानांग (४।३।५००) में वर्णित आहरणदृष्टान्त के भेद एक ही हैं।
२३. नन्दीसूत्र ४७ पर हरिभद्रवृत्ति तथा दशवैकालिक-वृत्ति पृ. ५०
२४. न्यायसूत्र १।१।३६,
२५. अनुयोगद्वारसूत्र-वृत्ति [हरिभद्र] पृ. १५, सूत्रकृतांग १।१।२१ पर शीलाकाचार्यकृतवृत्ति पृ. २२६,

धम्मो दीपो
संसार समुद मे
धर्म ही दीप है

२६. द्र. दशवै, वृत्ति पृ. ५२, हेतु के लक्षण आदि के लिए द्रष्टव्य-नन्दीसूत्र ११५ पर हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. ९३, दशवैकालिक-निर्युक्ति ८६, हरिभद्रीय वृत्ति [दशवैका.] पृ. ३८-४१
२७. ज्ञाताधर्मकथा १७।३३ [उद्धृत-एकार्थक कोष, पृ. ८७]
२८. अभिधानराजेन्द्र कोष भा. ४, पृ. २००२,
२९. आदिपुराण ३९।१४१
३०. न्याय-भाष्य-पृ. ३८ [प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः] ।
३१. वेदान्तपरिभाषा पृ. १०३ [न्यायो नाम अवयवसमुदायः] ।
३२. तत्त्वचिन्तामणि, पृ. १४६० [अनुमितिचरमकारण-लिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यं न्यायः] ।
३३. जैन लक्षणावली, भा. २, पृ. ६५३-५४
३४. द्र. वाचस्पत्यम् भाग-५, पृ. ४/१५९,
३५. धवला पु. १३, पृ. २८६
३६. उपासकाध्ययम् १४, पृ. ५
३७. द्र. अभिधानराजेन्द्र, भा. ४, पृ. २५०९
३८. नन्दीसूत्र गाथा ५-१९
३९. दशवै. निर्युक्ति-गाथा १५७,
४०. आदिपुराण १।१३८-१४२
४१. चारिसंजीविनीचारन्याय एष सतां मतः । नान्यथात्रेष्ट-सिद्धिः स्याद् विशेषेणादिकर्मणाम् । [योगबिन्दु ११९] ।
४२. द्र. योगदृष्टिसमुच्चय—१४ पर स्वोपज्ञव्याख्या
४३. राजवार्तिक—८।१।२८
४४. कायकिरियाए दोसा खविया मंडुक्क-चुन्न-तुल्ल त्ति । ते चेव भावणाए नेया तच्छारसरिस त्ति [योगशतक-८६] । मण्डूकभस्मन्यायेन वृत्तिबीजं महामुनिः । योग्यतापगमाद् दग्ध्वा ततः कल्याणमश्नुते [योग-बिन्दु-४२३] ॥
४५. यथा वर्षातिपाते मृद्भावमुपागतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोद-वारिधारावसेकाद् मण्डूकदेहभाव-मनुभवति—[योगसूत्र-१।१९ पर तत्त्ववैशारदी टीका-वाचस्पतिमिश्रकृत] ।
४६. एएसि च सरूवं अण्णेहि वि वण्णियं इहं णवरं । सत्तुग्गहण्टुद्धाणभट्टतण्णाण-णाएण । [उपदेश पद, गाथा ८६१] ।
४७. उपदेश पद—८६२
४८. बालादिकेभ्यो—बाल-वृद्ध-मध्यमवयःस्थेभ्यः स्त्रीपशुपालभामहादिरूपेभ्य एकान्तत एव सत्यवादितया सम्भाव्यमानेभ्य एतं पुरुषं मार्गपृच्छायोग्यं ज्ञात्वा ततस्तदनन्तरं युज्यते गमनम्” [—उपदेशपद ८६३ व सुखसम्बोधिनी टीका] ।
४९. बालाबलादिभ्यः—तदवगमतुल्यस्तु महावाक्यार्थः, सिद्धयति चास्मात् जिज्ञासितोऽर्थः” [उपदेशपद—८६४ तथा उस पर सु. स. टीका] ।
५०. धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद् हि पंकस्य, दूरादस्पृशं वरम् [अष्टकप्रकरण—४।६]” यह पद उन्होंने महाभारत [वनपर्व—२।४९, गीताप्रेस सं.] से उद्धृत किया है ।

५१. अस्ति चायं न्यायो यदुत सामान्योक्तावपि प्राधान्य-व्यापनार्थं विशेषाभिधानम्—इति । यथा ब्राह्मणा आयाताः, वशिष्ठोऽपि आयातः इति । नन्दीसूत्र-वृत्ति पृ. ६ ।
५२. द्र० राजवार्तिक—१।३।२ तथा सर्वार्थसिद्धि [१।३] ।
५३. त्यक्त्वा आरम्भम् एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्—इति न्यायात् परिग्रहं च” [पंचवस्तुक—१९ पर स्वोपज्ञ टीका]
५४. दशवैकालिक—गाथा ६।९ पर हरिभद्रकृतवृत्ति ।
५५. दशवैकालिक निर्युक्ति—१५८
५६. पञ्चपुराण—१०९।८५—९०
५७. नन्दीसूत्रवृत्ति [गाथा—७६, पृ. ५८]
५८. दशवै. वृत्ति, पृ. ४
५९. योगबिन्दु—२२६ आदि पुराण—२४।१२२, नन्दीसूत्र—४५ पर हरिभद्रीय वृत्ति [अज्ञानम्, फलाभावात् अन्धप्रदीपवत् । ज्ञानस्य फलं विरतिः, सा च मिथ्यादृष्टेर्न विद्यते ।
६०. राजवार्तिक—१।१०।९ (जात्यन्धस्य प्रदीपसंयोगेऽपि न दृष्टृत्वं तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्य आत्मनो न ज्ञातृत्वम्) । लोक-तत्त्वनिर्णय ८ [उदितौ चन्द्रादित्यौ, प्रज्वलिता दीपकोटिरमलाऽपि नोपकरोति यथान्धे, तथोपदेशस्तमोऽन्धानाम्] ।
६१. योगबिन्दु—२८३
६२. योगबिन्दु—२५४-५५
६३. द्र० नन्दीसूत्र (सू० ५८ तथा गाथा ७२-७३) पर वृत्ति,
६४. उप्पलदलसयदेहे व्व दुव्विभावत्तणेण पडिहाइ । समयं व सुक्कसक्कुलिदसणे विसयाणमुवलद्धी (विशेषावश्यक भाष्य—२९८, उद्धृत शास्त्रवार्तासमुच्चय—१।४१ पर यशोविजयकृत व्याख्या)
६५. नन्दीसूत्र (सू० ५८ तथा गाथा ७२-७७) पर वृत्ति
६६. दशवैकालिक निर्युक्ति—३६४-६५
६७. योगदृष्टिसमुच्चय—२०६,
६८. अष्टकप्रकरण—३२।४-५
६९. अष्टकप्रकरण—१।६-७
७०. पंचवस्तुक—४६-४९
७१. पंचवस्तुक—२११-२१२
७२. प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः । तृतीयौषधकल्पत्वात् द्विसन्ध्यमथवाऽसति । (योगबिन्दु—४००)११
७३. उपदेशपद—३८९-३९२
७४. योगशातक—८२
७५. उपदेशपद—४३०-४३
७६. उपदेशपद—४३२ तथा चन्द्रसूरिकृत टीका, तथा उपदेशपद—४३७-४०
७७. योगबिन्दु—२०४-२०५
७८. नियमसारकलश—२२५, आदिपुराण—३५।२४१, उत्तर पुराण—५०।६८
७९. धर्मः किं न करोति मुक्तिललना—सम्भोगयोग्यं जनम् (ज्ञानार्णव—२।१६९) ।
८०. योगबिन्दु—२५७, २६०, षोडशकप्रकरण—११।३, [तु. भागवत पुराण—१०।१३।२]

धर्मो दीप्तो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

८१. भणियं कूवणायं (श्रावक-प्रज्ञप्ति—३४७) ।
८२. श्रावक-प्रज्ञप्ति—३४५-३४७, पंचवस्तुक—१२२४, षोडशकप्रकरण—१।१४,
८३. पंचवस्तुक—१०१
८४. योगबिन्दु—३४५,
८५. योगबिन्दु—३४६-३४९,
८६. जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधतः । हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् (योगदृष्टिसमु०—९१) ॥
८७. यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः । स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादि-प्रसाधनः (योगबिन्दु—२४५) ॥
८८. योगबिन्दु—३५१, षोडशकप्रकरण (३।११) पर यशोविजयकृत टीका,
८९. दशवैकालिक वृत्ति (निर्युक्ति—३७) पृ० १२
९०. योगदृष्टिसमुच्चय—१४-१५; तथा स्वोपज्ञ व्याख्या ।
तुलना—अभिघर्मदीप—१।४३ पर विभाषाप्रभा टीका, तथा—१।४१ पर भाष्य ।

